2

अब जंगल कहाँ रहे !

"यू बांज बुरांस, कुलै की डाली
न कोटा, ने काटा रखा जग्वाली।
पत्तियों मा छ दूध, जड़यो मा छ पाणी..."

घनश्याम सैलानी

हिमालय की तीन महिलाँए अपने अनुभव के अनुसार, अपनी धरती व जंगलों का इतिहास बताती हैं।

विमला देवी (५८) टिहरी गड़वाल के चम्बा विकास खण्ड के डारगी गाँव में रहती हैं। गाँव सड़क से ६ कि.मी. दूर बसा है। पिछले १० वर्षों से विमला देवी डारगी महिला मंडल की अध्यक्षा हैं। एक युवा विधवा होने के नाते उन्हें, इस क्षेत्र में आए पर्यावरण से संबन्धित कई बदलावों की वजह से, बहुत सी कठिनाइयों से जूझना पड़ा। अपनी समस्याओं व स्थानीय संसाधनों व जलवायु में आए बदलाव का ज़िक्र करते हुए वह कहती हैं:

"हमारे पास मामूली ऊखड़ (असिंचित) खेती है, वो हमारी दूर की है, उस पर हम एक ही फसल उगा सकते हैं। बरसात के समय धान उगा सकते हैं, बाकी समय ऐसी (खाली) ही रहती है। हमारे पास एक भैंस है, पर उसको पालने का भी साधन नहीं है

क्योंकि पेड़, जंगल सब कुछ खत्म हो गये हैं। अब पेड़-पौधे पनपते नहीं हैं। बड़ी मुश्किल से एक भैंस रख सकते हैं। अब काफी परिवर्तन महसूस होता है, कि पहले झाड़ी काफी थी, अब बारिश पानी नहीं है, तो फिर जंगल कहां से होगा?

"मैं तो समझती हूँ बहुत बदलाव आ गया है। ज़्यादा नहीं तो १५ साल की बातें तो मुझे याद ही होंगी। तब से अब तक बहुत बदलाव आ गया है। उस समय जो भैंस चार किलो दूध देती थी अब एक किलो देती है। ...अब हम लोग खेती तो हर प्रकार की करते हैं पर जब वर्षा ही नहीं होती, तब क्या करें? ...जंगलों का तो नाश हो गया अब वर्षा कहां से होगी? जंगल के रहने से हवा चलती थी, हवा वर्षा लेकर आती थी, अब बादल टकरायेंगे किससे? अब तो हवा वैसे ही पास (आर-पार) हो रही है। मेरा दिमाग तो यही सोचता है।

"पहले तो बहुत घने जंगल होते थे। थोड़ा सा कोहरा होने पर ही वर्षा हो जाती थी। जंगल वर्षा लाता था। ...पहले बांज थे, बुरांस थे, काफल थे, चीड़, देवदार आदि थे। हमारे जंगल बहुत थे। हमें ज्ञान तो नहीं है पर अनुभव है कि जंगल के न होने पर वर्षा नहीं होती।

"अब जंगलात के ठेके हो गये। जंगल बुरी तरह कट गये हैं। छोटी-छोटी पौध वैसे ही दबकर नष्ट हो गयी, तो जंगल स्वयं समाप्त हो गये। जंगलों का सत्यानाश तो वैसे ही हो गया है। किसी पेड़ के गिरने पर उसके नीचे कई और छोटे पेड़ गिरकर टूट जाते हैं। अब बड़े पेड़ ही नहीं हैं तो बीज झड़ने से नये पेड़ कैसे पैदा होते होंगे? इसी कारण हमारे पानी के स्रोत भी खत्म हो गये हैं।

"डांडों (पहाडियों पर) के पास देखो काफल हैं बांज बुरांस हैं, इनकी जडों से पानी निकलता है। उनके नीचे छोटी झाड़ी भी होती है। फिर झाड़ी ही नहीं रही तो पानी बरसने पर अब थोड़ा बहुत पानी निकलता है। मिट्टी को बहने से रोकने वाले पेड़ ही नहीं रहे तो क्या होगा? (पानी) सब बहा कर ले जाता है। थोड़ी देर को नदी आती है, फिर सूखा ही रहता है।

"अब लोग कहते हैं कि विकास का समय है, मेरे हिसाब से ये सत्यानाश का समय है।...सत्यानाश नहीं तो क्या? जंगलों के सरकारी ठेके हो गये हैं, पहले जंगल से चारा भी लाते थे, बड़े पेड़ होते थे तो सूखी लकड़ी मिल जाती थी। अब कुछ भी नहीं है। हमें कच्ची लकड़ी की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। अब जब जंगल में कुछ है ही नहीं तो नियम तोड़कर कच्ची लकड़ी ला रहे हैं कि कल क्या जलायेंगे, इसी वजह से जंगल का पतन हो गया है।

"अब रखवाली के लिए पतरोल रखे गए हैं, पर वे लोग भी ये कहते हैं *काट लो मैं उधर जा रहा हूँ*। ये सब सरकार के खज़ाने को खाली करने की स्कीम है। मुझे तो इस स्कीम का कोई फायदा महसूस नहीं हुआ।"

जैव विविधता का क्षरण एक मूक संकट है। क्षरण चाहे छोटे पैमाने पर ही क्यों न हो, इसके दुष्परिणाम बड़े हो सकते हैं। एक खाद्य श्रृंखला के माध्यम से प्रकृति में प्रत्येक जीव एक दूसरे से जुड़ा है। जीवों में पर-निर्भरता प्रकृति का नियम है। कोई भी जीव स्वः निर्भर नहीं है। यदि कोई एक प्रजाति विलुप्त होती है तो परिस्थितिक तंत्र में अन्य अनेक प्रजातियों के लिए अस्तित्व का संकट आ जाता है। उदाहरणार्थ, हिमालय

के वनों में प्रकृति की पराकाष्टा प्रजाति बाँज यदि पूर्णतः विलुप्त हो जाती है, तो बाँज के अनेक सहवासी वृक्ष, झाड़ियाँ, लताएं, शाकीय पौधे, वन्य जंतु, सूक्ष्म जीव आदि तथा बाँज के वृक्ष पर उगने वाले कवंक, काई, मोस, फर्न, लाइकेन आदि स्वयं विलुप्त हो जाएंगे।

रामचंद्री देवी (५५) उत्तरकाशी के पाटा गाँव में रहती है। वे बताती है कि बाँज के जंगल कटने का ग्रामीण जीवन तथा समूचे वातावरण पर क्या असर होगा।

"पहले अच्छी वर्षा हो जाती थी, पर अब तो खराब वर्षा होती है। पहले ऐसा शोर व तूफान नहीं होता था, शांत वर्षा होती थी। समय बदल गया है। ...समझ में नहीं आता। खराब ज़माना आ गया है। सन १९७८ की बाढ़ के बाद से तो मौसम लगातार बदलता ही जा रहा है।

"हमें घास लेने अब अधिक दूर जाना पड़ता है। अब घोड़े, खच्चर पाल लिए हैं तो घास गाँव के पशुओं को कम मिलता है। पहले जंगल बहुत घना था। जहां भारत ति.सी.पु. बसी है वहाँ तो पहले बांज और बुरांस का घना जंगल था। इस फौज को बसाने के लिए जंगल काटा गया। यहाँ तक इनकी सड़क आई है तो सड़क में भी बहुत पेड़ कट गये। अब तो जंगल काफी कम रह गया है।

"धान की फसल के लिए जब हम बीज बोते हैं तो खेतों में बांज की पत्तियों की बनी खाद ही डालते हैं। हम बांज की पत्तियाँ वहीं से लाते हैं पर अब बांज के पेड़ गिनती करने लायक

ही रह गये हैं। ...अब जंगलों में जंगली फल कम हो गये हैं। बेटा, जंगल में घास लकड़ी लेने बहुत दूर तक जाते हैं। सुबह जाते हैं और शाम को लौटते हैं। हम लोग साथ में भुजकुटा, भंगजीर, चूड़ा आदि का नाश्ता साथ लेकर जाते थे।

"सड़क बनने में तो एक बार में ही पेड़ काटे गये, पर अब भी पेड़ गिरते हैं उसका कारण है पेड़ पर खांपा बनाना। खांपा बोलते हैं चीड़ के पेड़ पर लीसा निकालने के लिए तने को बीच से गहरे कटे हुए निशान को (घाव)। एक-एक पेड़ पर तीन-तीन खांपे बनाते हैं। तना कमज़ोर हो जाता है जिससे आंधी आने पर वह अपना वजन नहीं थाम सकता और टूट जाता है।

"पहले तो जंगल में आग लगने पर गाँव के लोग आग बुझाने जाते थे, पतरोल भी साथ में होता था। पर अब गाँव के लोग नहीं जाते हैं, पतरोल ही जाता होगा।

"जंगलात वाले पेड़ लगाते हैं।...देवदार के पेड़ लगाये हैं और पांगर लगाया है। हम पांगर के पेड़ को नहीं जानते हैं पर सुना है कि वह घास के लिए भी हो जाता है। एक कांटेदार वृक्ष है, वह भी नया पेड़ है। बांज के पेड़ भी लगाये हैं, खड़िक भी लगायें हैं।

"कोई-कोई पेड़ ही बचे हैं। बच्चे ही काट लाते हैं कई पेड़ों को। पिछले वर्ष तो एक चौकीदार था पर इस बार नहीं है, या हो सकता है वह यहाँ आता ही न हो। नर्सरी में काफी पौधे हैं। जंगल में जब आग लगती है, तब तो छोटे पेड़, जो उगे हैं और लगाये गये हैं, आग से नष्ट हो जाते हैं। आग भी जंगल कम होने का एक कारण है।...आग नहीं लगानी चाहिये और चौकीदार रखना ही चाहिये।

"बांज, खड़ीक, भिमल के पेड़ लगाने चाहिये। ये पशु के चारे के काम में भी आते हैं, और अन्य काम में भी। और फलदार वृक्षों में नाशपाती, अखरोट, प्लम आदि के पेड़ लगाने चाहिये।"

यगजंग एक ५६ वर्षीय भोटिया महिला हैं। ये प्रतिवर्ष अपने परिवार तथा पशुओं के साथ हरसिल और डूँडा जाती हैं। वे बताती हैं कि पहले जंगल अधिक घने थे जिससे गडरिये आते-जाते बहुत आराम व आनन्द महसूस करते थे। आजकल जनसंख्या वृद्धि तथा सरकारी लकड़ी संबन्धी योजनाओं से उनका सारा प्राकृतिक परिवेश बदल गया है।

"अब जंगल कहाँ रहे? अब तो सब जगह खेत बन गये हैं और मकान बन गये हैं। पहले तो सब जगह जंगल थे, बहुत घने जंगल होते थे। घास भी बहुत ज़्यादा होता था, कमी नहीं थी। अब तो घास भी नहीं मिलता, बहुत दूर जाना पड़ता है।

"आदमी बढ़ रहे हैं तो खेती बंट रही है। जहाँ जगह अब खाली है वह सरकार के कब्ज़े में है, वह पौध लगा रही है, इसलिए वहाँ घास नहीं निकाल (काट) सकते। जंगल भी कट रहे हैं। सर्दियों में होता है जंगल कटने का काम। चोरी-चोरी जंगल से लकड़ी सर्दियों में कटती है। परमिट पर जो पेड़ मिलता है, जंगलात से, वह गर्मियों में कटता है। सर्दियों में कौन जायेगा जंगल में देखने? गर्मियों में तो सबका खेत का काम होता है, पडियाली लगती है। किसको फुर्सत है जंगल जाने की?"

पिछली शताब्दी के मध्य में अंग्रजों व विभिन्न रजवाड़ों ने हिमालय के

जंगलों का व्यावसायिक क्षरण किया। १०० वर्षों के भीतर बाँज व देवदार के महान जंगलों को विदेशी शासकों ने काट दिया। इन्हीं से उनके कारखानों की आवश्कताओं को पूरा किया गया। इस प्रकार उत्पन्न प्राकृतिक असंतुलन के बुरे असर को मनुष्य व प्रकृति अभी तक भुगत रहे हैं।

जब जंगल खत्म हो जाते हैं

"वर्षा कम हो गयी। पेड़ वहाँ के कट गये जगह नंगी हो गयी। मिट्टी पानी के साथ गलकर बह गयी। पेड़ हीन पहाड़ हो गया। पानी का रुकाव नहीं।

"एक तो समय से वर्षा नहीं हो रही है। सावन सूखा पड़ता है तो जेठ में वर्षा होती है। पहले बर्फ पड़ती थी तो सारा जंगल नम हो जाता था, एक समय पूरी ज़मीन तर हो जाती थी, तथा पेड़ों की जड़ों तक पानी पहुँच जाता था और वन हरा भरा हो जाता था। अब वह बात नहीं है। जब मैं छोटा था तब तीन-तीन, कभी-कभी आठ-आठ, दस-दस दिन तक लोग बाहर निकलते ही नहीं थे। ४ से लेकर ६ फुट तक बर्फ पड़ती थी।

"पहले बाघ, रीछ, घोल्ड, काखड़, बारहसिंघा, चीतल, शेर भी जंगल में रहते थे। घोल्ड बहुत कम दिखते हैं। बाघ तो एक बार खत्म ही हो गया था। रीछ अब दिखाई ही नहीं देता है। जंगली सूअर भी पहले बहुत थे, अब कम हैं। शेर तो अब बहुत ही कम दिखाई देता है। ये पशु अच्छे थे व जंगलों में रहते थे। लोगों ने जंगली पशुओं का शिकार किया। वनों को काट डाला। आबादी ज़्यादा हो गयी। बन्दूकें ज़्यादा हो गयी हैं।"

–सदर सिंह परमार, सर्प गाँव, उत्तरकाशी

जो जंगल समुदायों के थे और जिनका प्रयोग व संचालन उनके ही हाथ में था, उन्हें राज्य ने अपने अधिकार में ले लिया। इस प्रकार जंगलों के रखरखाव तथा अधिकार का जब हस्तान्तरण हुआ, यह कहकर कि यह संरक्षित जंगल है–जंगलात महकमे के आधीन–तब इसके बहुत तरह के दुष्परिणाम हुए। वे प्रजातियाँ जिनको स्थानीय लोग बहुत प्रयोग करते थे और महत्वपूर्ण मानते थे, वे लुप्त होने लगीं। इनकी जगह एक प्रकार की प्रजाति की खेती होने लगी जिससे सरकार की व्यवसायिक आवश्यकताएं पूरी हो सकें। मिश्रित जंगलों में बांज तथा बुरांस के पेड़ होते थे और उनके नीचे खूब हरियाली, खाद तथा पानी मिलता था। इनके स्थान पर एक ही प्रकार के पेड़ो की प्रजाति–चीड़–के जंगल दिखने लगे।

अवतार सिंह नेगी (७५) एक मेहनती बढ़ई तथा कारीगर हैं और टिहरी गढ़वाल के कुमांली गाँववासी हैं। वे बताते हैं कि उनके जीवनकाल में ही किस प्रकार से पेड़-पौधे तथा जानवर दोनों की ही संख्या कम हो गई है।

> "पहले तो बहुत पेड़ थे तो इमारती लकड़ी के लिए मांग करने पर पेड़ मिल जाते थे, लेकिन अब तो पेड़ ही नहीं हैं तो मिलेंगे कहाँ से? अब तो दरवाज़े के लिए लकड़ी भी बाजार से लानी पड़ती है। आजकल तो प्रधान, जंगल का चौकीदार, फोरेस्टर, सभी आपस में मिले हैं। जिसकी सिफारिश रहती है उसे तो प्रधान पेड़ दिला देता है और ज़रूरतमंद व्यक्ति की सिफारिश व रिश्वत न होने से उसे पेड़ नहीं मिलता।
>
> "जब गाँव के ४-५ परिवारों के प्रार्थना पत्र प्रधान के पास जाते हैं तो वह वन विभाग से पेड़ दिलाता है, लेकिन जिस समय

आवश्यकता रहती है उंस समय नहीं मिलता। सालभर में एक पेड़ मिलता है पूरे गाँव में। जो पैसा देता है उसे खूब ज़्यादा लकड़ी मिल जाती है।

"बहुत अच्छा जंगल था। जंगल तो पूरा कट गया है। इसका प्रमाण है कि हमारे गाँव मे प्रत्येक मकान पर सांदण की लकड़ी लगी है। अब तो सिर्फ चीड़ है। चीड़ के पेड़ पहले से ही है पर अब यहाँ चीड़ का बहुत बड़ा जंगल बन गया है।

"यह तो पूरे क्षेत्र का जंगल है। खाड़ी से चम्बा तक जितने भी गाँव हैं वहाँ के लोग इसी जंगल से घास लकड़ी ले जाते हैं। इस जंगल में तो सभी गाँवों के लोग आते हैं, आमपाटा से चम्बा तक के २५-३० गाँवों के लोग यहीं से चारा लकड़ी ले जाते हैं। उसने जल्दी समाप्त तो होना ही है। उस पर हम प्रतिबन्ध भी क्या कर सकते हैं? आज से १०-१५ वर्ष पहले तक यह जंगल बहुत घना था। लेकिन अब तो बहुत कम रह गया है। हमारे कुछ खेत गाँव से नीचे हैं। वहाँ का नाम सौड़ है। पहले तो यहाँ ऐसा था कि जब हल लगाने के लिए जाते थे तो वहाँ शेर का भय रहता था। अब तो जंगल के बदले लालटेन (लेंटाना या कुरी) की झाड़ियाँ उग रखी हैं, अब तो न हमने शेर देखा न ही बाघ।

"पहले तो बारहसिघां भी रहता था क्योंकि जंगल बहुत घना था। अब तो बारहसिंघा नहीं है। अब तो हिरन, बाघ, भालू, सौरों (जंगली गाय), सूअर आदि बहुत कम हो गये हैं जबकि पल्लीपार के जंगल में बारहसिंघा भी होता है। हमारे जंगल में अब खरगोश, साही, हिरन ही हैं।

"कभी जंगल में आग भी लगती है। लोग बुझाने के लिए जाते

तो हैं पर बुझा नहीं पाते। क्योंकि चीड़ की सूखी पत्तियाँ जब आग पकड़ती हैं तो बुझ नहीं पाती। यहाँ आग लगने का मुख्य समय मई-जून है। जब बरसात शुरु हो जाती है तब तो आग लगने का प्रश्न ही नहीं है। कभी अचानक लग जाती है। जंगल के बीच में जो गाँव हैं वहाँ से आता-जाता व्यक्ति कभी लगा देता है। जलती बीड़ी या माचिस की तीली भूल से पड़ जाती है तो आग लग जाती है। फिर जंगल के गाँव वाले भी जंगली ज़मीन को साफ कर के वहाँ खेती के लिए आग लगा देते हैं। वहाँ से भी कभी-कभी आग फैल जाती है। हमारे गाँव से तो आग लगने का प्रश्न ही नहीं है।"

कालसा राम सेमवाल बताते हैं कि किस प्रकार भिलंगना घाटी से गंगी के घने देवदार व राई, मोरिंडा और थुनेर के जंगलों का कटान हो रहा है। ऊचांई के कारण यह वृक्ष बहुत धीरे बढ़ते हैं। उन्हें यह भी दुख है कि यहाँ के लोग जो कि इतने स्वतंत्र और आत्मनिर्भर थे उनका नैतिक और सामाजिक ज़िम्मेदारी का भाव कितना गिर गया है।

"जंगलों की स्थिति यहाँ पर पहले अच्छी हुआ करती थी। लेकिन आज तो जंगलों को काटा जा रहा है, तो उसमें कमी आ गयी है। भिलंग के अन्तर्गत तो जंगलों का बहुत नुकसान हो चुका है। हमें यह देखकर बुरा तो अवश्य ही लगता है लेकिन क्या करें? हमारे कहने से क्या होगा? मैं अभी कुछ समय पहले गंगी गाँव गया था एक भागवत हेतु। वहाँ तो जंगलों की विशेषकर मृत्यु हो रही है। हमारे बोलने से कोई फायदा नहीं है। लेकिन आज जैसे निगम वालों का कहना है कि ऐसे पेड़ जिनका ऊपरी भाग

टूट गया है, उन्हें काटा जा सकता है, परन्तु आज तो ऐसा हो रहा है कि ऐसे पेड़ तो खराब हो जाते हैं, उन्हें कौन काटेगा? बल्कि लोग पूरे-पूरे पेड़ ही काट रहे हैं। पहले तो यह हुआ करता था कि कभी-कभी एक आद महीने के लिए जंगल के एक कोने में कटाई हुआ करती थी। फिर उस जगह को छोड़ दिया जाता था। उस समय ठेका लगता था, कभी इधर तो कभी उधर। अतः जंगलों को ज़्यादा नुकसान नहीं पहुँचता था।

"लेकिन अब तो सब जगह–अगर तुम घनसाली से जाओ तो घनसाली में, गंगी में और गंगी से खतलिंग के लिए जो रास्ता जाता है, खसरोली तक जंगल कटता ही जा रहा है। और बीच में भिलंगना है, वहाँ दोनों तरफ इतना अधिक कटान हो रहा है कि गाँव के अधिकतर लोग ठेकेदार बने जा रहे हैं। इन जंगलों के कटान से हमें बहुत कुछ हानि होगी जैसे बारिश की हानी, फसल की हानि। क्योंकि वर्षा पर्याप्त नहीं होगी, खाद भी नहीं होगी। हमारे जंगलों में जो छोटी-छोटी घास पत्तियाँ हैं वो सड़कर गदेरों में आया करती हैं। गदेरों का पानी हमारे सेरों में आया करता है। सेरों में आने पर खाद बन जाती है। उससे अच्छी उपज होती है। और यदि जंगल नहीं रहेगा तो खाद के आने का तो सवाल ही नहीं उठता। पहले तो वर्षा ही नहीं होगी। आयेगी भी तो इतनी कम होगी कि हमारे पास खाद बहुत कम पहुँचेगी। खाद तो तेज वर्षा के कारण ही हमारे खेतों में पहुँचा करती थी।

"पहले यहाँ जंगल इतने घने थे कि हमारे यहाँ से पैदल रास्ता है, सिलगढ़, हिन्दाव आदि के लिए, जो कि टिहरी ज़िले में ही

पड़ता है, तो चार-चार, छः-छः आदमी साथ आते थे। लेकिन आजकल तो अकेला आदमी भी आ जा सकता है। पर अब कौन जाता है पैदल? सब बस वाले हो चुके हैं।

"कौन करेगा विरोध (जंगलो के कटान का)? उपयोगी तो है ही (कुछ लोगों के लिए)। लोग कुछ अपने गाँव वाले ही हैं, और आजकल तो कटान वाले लोग कश्मीर से आये हुए हैं। कुछ स्थानीय लोग भी हैं, जो ठेकेदार हैं। वे भी लगे हुए हैं कटान पर। कुछ लोग गंगी के भी हैं। ये लोग समाज का गुण्डा वर्ग ही है जो कि निडर होकर ऐसे कार्य कर रहे हैं।

इन सड़कों का क्या फायदा?

"ये सारा घना जंगल रोड पहुँचने के पश्चात ही खाली (खत्म) हुआ। कई लोगों ने मकानों के लिए कटान किया तथा कई आरा मशीन वालों ने काटा। आरा मशीन वालों ने सेब की पेटियों के लिए बड़ी ही बेदर्दी से पौधों का कटान किया। तथा कुछ लोगों ने इन देवदार के पेड़ों के स्लीपरों का रातों-रात व्यापार किया। इसी तरह इस सुन्दर सुन्दर जंगल का नाश कर दिया। रोड के पहुँचने से थोड़ा लाभ तथा अधिक नुकसान हो गया।

–भगतराम नेगी, चाँसू, किन्नौर

जब इंधन, चारा खत्म होता है, पानी के स्रोत सूखते हैं, अनाज की फसलें खत्म होती है, तब शहरों की ओर पलायन बढ़ता है। नैतिक मूल्यों में बदलाव आता है। सड़कों, विकास संबन्धी योजनाओं, पर्यटन तथा व्यवसाय की नीतियों ने न केवल यहाँ के वातावरण तथा प्राकृतिक सौंदर्य को नष्ट

किया है, वरन् एक वो जीवनशैली भी बरबाद कर दी जो कि सदियों से प्रकृति से पूरा तालमेल बनाए थी।

आदवाणी गाँव की **बचनी देवी** उन बुजुर्गों की दयनीय दशा का वर्णन करती हैं जिनका कोई नहीं है, जिन पर वे आश्रित हो सकें।

"वर्षा पानी में तो बहुत अंतर आ रहा है पिछले सालों में जो हमने महसूस किया। बारिश होने पर हमारा घास हो जाता था। यदि ना हो तो कुछ भी नहीं हो पाता है। दुकानों में जाना पड़ता है। पहले खूब बारिश होती थी, अब बारिश कम होती है। अकाल ज़्यादा पड़ते हैं, अनाज कम होता है।

"दिन प्रतिदिन बूढ़ी हो गयी हूँ। अब मैं घर में बैठ गयी हूँ तो जंगल में चोरी हो रही है। मैं क्या करुं इसका? पर मेरे सामने पिछले १२ वर्षों से किसी ने पेड़ नहीं काटा। (हमारी तरफ़ देख कर) ...तुम्हारे बल से चलूँगी मैं लट्ठी लेकर। तेरे बल से, तेरे सहारे। पर अपने आप नहीं जाऊँगी।"

"दिमाग में तो यही है कि भरसक प्रयत्नों से जंगल बचाने ही चाहिये, किसी भी कीमत पर। क्योंकि इससे जंगलो की अपनी आब-हवा बनी रहेगी। अपना जंगल बचाना ही चाहिये। अब हमें १४ साल हो गये हैं लड़ते-लडते। पूरे १४ साल हो गये हैं बचाते-बचाते। सभी कुछ किया हमने। बचा लिया जंगल हमने किसी तरह से। अब सड़क आ गयी है। सड़क आने से ७ गावों के लोग आते हैं। काट देते हैं जंगल। तो मैने क्या करना है? अब मैं तुम्हारे साथ बैठी हूँ। इस बीच में यदि कोई पेड़ काट

करके ले जाय, तो मैं क्या कर सकती हूँ? मैं कर क्या सकती हूँ, मैं तो यहाँ बैठी हूँ।...अब खेत की मेंढ़ों से घास लाती हूँ। अपने जानवर पालती हूँ। जानवर ही नहीं पालूँगी तो कौन मुझे खाना देगा?

"गाँव का निश्चित कोई अपना जंगल है नहीं। अब जब से सड़क आयी हैं, तब से इन पहाड़ियों के पार (डांडा), बंगजा क्षेत्र के लोग घास लकड़ी लेने यहीं आते हैं, नीचे बेरनी गाँव के लोग आते हैं। लेकिन जंगल सरकारी ही है। बिल्कुल घेरबाड़ है, पर सरकारी है। सड़क आए तो १६-१७ वर्ष हो चुके हैं। यह पक्की बात है कि १६-१७ से कम नहीं है, मेरे को अच्छी तरह से याद है।

"घास और लकड़ी की बहुत परेशानी हमारे लिए हो गयी है, अब दूर-दूर से लोग ऐसे ही आते हैं। लकड़ी घास काटते हैं और बसों में रखकर चले जाते हैं जिससे हमारे लिए इन चीजों का त्रास (संकट) हो गया है।"

"हमे सड़क तो अच्छी लगी, पर घास लकड़ी का त्रास हो गया है। यह हुआ कि हमें तो अच्छा लगा कि गाड़ी पर इधर-उधर जायेंगे, पर घास लकड़ी का सफाया हो गया। अब हमने ऐसी हालत में पशु भी क्यों रखने हैं जब जंगलों का सफाया हो गया है।

"मैं तो मर-खप गयी हूँ। जब कोई (सड़क और जगह) ले भी जायेगा ठीक ही है। जब दुनिया में सबके लिए सुविधा हो गयी है तो जिस गाँव में सड़क नहीं है वहाँ भी चली जाती तो ठीक ही था। अब हृदय ऐसा कहता है कि दूसरी जगह भी चले ही जानी चाहिये। ऐसा तो कोई दुष्ट ही सोचेगा कि हमारा ही हमारा विकास हो। ऐसा मैं चाहती हूँ।

"हाँ घास लकड़ी का तो त्रास हो गया है तब करेंगे ही किसी तरह से अपना गुज़ारा। पर अपने लिए तो होगी सुविधा। यही तो होगा कि ज़्यादा पशु नहीं बाँधेंगे। जितना आया उतना ही खाया *आयी न्याली पेट पाली*–ऐसा ही करेंगे और क्या करना?

वन्य प्राणियों की भी हानि है

"बीच बीच में तो गोणी (लंगूर), बन्दर आदि बिल्कुल बन्द हो गये थे। अब तो खुले आम आ रहे हैं।...जंगल कम होने के कारण बाघ, भालू भी आ रहे हैं। यह जंगल के कम होने का प्रभाव हो सकता है। जंगल में हर चीज़ पैदा नहीं हो रही है और इन्हें उनका आहार नहीं मिल रहा है, इसलिए अब ये बस्तियों के नज़दीक आने लगे हैं।"

–चतर सिहं भंडारी, कुडी गाँव, टिहरी

सरकारी नीतियाँ व नज़रिया कभी भी इस पक्ष मे नहीं है जिससे स्वयं प्रबन्ध व संचालन को बढावा मिले। सरकार ने एक महकमे का निर्माण किया, जलागम विभाग, जिसका काम था कि वनीकरण के ज़रिये जल की प्राकृतिक स्रोतों का संरक्षण करें। किन्तु बहुत लोगों ने इस सरकारी विभाग की खुलकर आलोचना की।

उत्तरकाशी मे सर्प गाँव के रहने वाले **संदर सिंह परमार** बहुत जोर देकर बताते हैं:

"कुछ जगह लोगों ने वनों की सुरक्षा के लिए–अपनी तरफ से गाँव वालों ने–चौकीदार नियुक्त किये। जंगलात विभाग ने तो वनों

का सत्यानाश किया है। रक्षक ही भक्षक बने हैं। क्योंकि इनको दारु पिलाओ, पैसा दो, उसके बदले जितना मर्ज़ी वन काट लो।

"आग से बचाने के लिए गाँव वालों को प्रोत्साहन देना चाहिए, यदि मज़दूरी भी देनी पड़े, तब भी ठीक है, पेड़ों का बचाव तो हो जायेगा। वनीकरण पर अन्धाधुन्ध खर्च हो रहा है, पर फायदा नहीं मिल रहा है। इसके बदले सुरक्षा व आग के बचाव पर ख़र्च होना चाहिए।

"इतने साल हो गये वनीकरण करते हुए, पर मैंने तो लगा हुआ एक पेड़ भी नहीं देखा। कहीं कोई पनपा ही नहीं, केवल लगाने का ही ठेका है, बस! वनीकरण में केवल दीवाल लगती है, जो एक साल में टूट जाती है। वृक्षारोपण कुछ नहीं हैं, कहीं पेड़ का नाम ही नहीं है।"

पेड़ हमारे बच्चों के जैसे हैं

"मुझे पता नहीं है कि जो पेड़ लगाते हैं उन्हें क्या कहते हैं, नाम नहीं आता मुझे। वे तो पेड़ लगाते हैं। पर ऐसे पेड़ लगा दिये कि जो चारे के काम के ही नहीं हैं। पर अगर ऐसे पेड़ भी लगा दिये, तो देखभाल की ज़रूरत तो पड़ती है उनकी। वे तो पेड़ लगाते हैं और चले जाते हैं। पलट कर उन पेड़ों को देखने नहीं आते। क्या पेड़ ऐसे लगते है? उसकी देखभाल की आवश्यकता होती है। वे लोग सरकार से तनख्वाह खूब लेते हैं, पर उस तनख्वाह का सही प्रयोग जीवन में नहीं करते। काम नहीं करते ये लोग! पेड़ बचाने के लिए उसकी (वृक्ष की) देखभाल बच्चों की तरह करनी पड़ती है। एक छोटे बच्चे को दूध पिलाना

पड़ता है, नहलाना पड़ता है, अन्य देखभाल करनी पड़ती है। ठीक इसी तरह छोटे से लगाये गये पौधे की देखभाल करनी पड़ती है। ये लोग तो जहाँ पेड़ लगाते हैं, घेरबाड़ भी नहीं करते उस स्थान की। देखभाल तो दूर की बात है। वहाँ तो घास भी नहीं है। अब हमारा जंगल ही खराब कर दिया है।

–**अत्तरदेई**, सुनारागाँव, उत्तरकाशी

चतरा देवी (५५) टिहरी के जाखोली खंड में भेलगण्डी गाँव की वासी है। वे महिला समाख्या, जो कि महिलाओं की संस्था है, में एक गाँव निरीक्षक के रूप मे कार्यरत हैं। वे १० गाँवों की सहयोगिनी हैं। वे शोषण करने वाले गाँव वासियों की निर्भीकरूप से अलोचना करती हैं, खासकर पुरुषवर्ग की जो कि अपने परिवार की रोज़ की आवश्यकताओं की ओर ध्यान नहीं देते। वे भी जलागम को ही भ्रष्टाचार और पेड़ों की चोरी को प्रोत्साहन देने के लिए ज़िम्मेदार ठहराती हैं।

"पहले वर्षा अधिक हुआ करती थी। अब उतनी नहीं होती है, क्योंकि पहले तो घने जंगल थे, जिनमें जाने में हमें डर लगता था, लेकिन वो जंगल अब नहीं रहे। अब तो वे जड़ से ही साफ हो गये हैं। एक तो, पहले यहाँ पर १६ परिवार थे लेकिन अब उनके २४ परिवार हो गये हैं, तो भैस, बैल आदि अधिक ही चाहिए। चौबीस परिवारों के लिए २४ मकान भी चाहिऐ, जिनके लिए लकड़ी जंगलों से ही प्राप्त होगी। कुछ पेड़ जलागम वाले चोरी-छिपे काट डालते हैं और कुछ गाँव के लोग चिरान वग़ैरह करते हैं, तो कोई लकड़ी काटकर बेच देते हैं। आजकल कटान कार्य कम हुआ है,

फिर भी चोरी छिपे लोग तो कटान करते ही हैं।

"ज़्यादातर लोग उतीस की लकड़ी काटते हैं। उसकी जड़ के नीचे पानी होता है, जो कि पेड़ काटने पर सूख जाता है। उसकी लकड़ी बहुत कीमती होती है। यह दरवाज़े की देल (चौखट) आदि बनाने में काम आती है। जबकि चीड़ की लकड़ी कमज़ोर होती अतः उतीस का अधिक उपयोग होता है और वह कम मात्रा में भी उगता है। अब तो जंगल आधा भी नहीं रहा। जहाँ हम पहले एक मिनट में एक बोझा काटकर लाते थे, वहाँ अब हम दिनभर भटकते ही रहते हैं।

"पानी भी खत्म हो गया है और जब से ये नल लगे हैं तब से पानी भी खराब हो गया है। पहले छोटे-छोटे छोये (स्रोत) निकलते हैं। ये मिलकर गदेरे बनाते हैं और गदेरे मिलकर बड़ा गदेरा बनाते हैं, जिससे हमारी खेती सींची जाती है। उतीस व बांज की जड़ से पानी निकलता है। अब जंगल ही खत्म हो गये हैं तो वर्षा पानी भी कम ही होता है।

"जंगल कटने से औरतों के लिए घास की कमी हो गयी। ज़्यादा काटेगें तो पानी की कमी भी हो जायेगी। पुरुष लोग तो कुछ सोचते ही नहीं हैं। कोई कटान वाला होता है, कोई चिरान वाला होता है, उनकी तो मज़दूरी बनती रहती है। एक दो बार जाख की औरतों ने आन्दोलन किये।

लोग व्यवस्था कर लेंगे

"जंगलात वाले सही ढंग से पेड़ों की देखभाल नही करते हैं। अगर किसी ने पेड़ काट दिया तो तब तो वे पहुंच जायेंगे लेकिन

उनकी (पेड़ों की) सुरक्षा के लिए नहीं। गाँव सभा को मालूम है कि हमारी, आवश्यकता क्या है, और वे उस चीज़ को सुरक्षित रख सकते हैं। ग्राम सभा द्वारा संभाले पेड़ अच्छे पनप सकते हैं। जंगलात वाले तो रहते हैं अपने ऑफिस में बैठे हुये और गाँव वाले तो जंगल को देखते रहते हैं कि किसने काटा, क्या काटा। देख-रेख तो गाँव वालों की होती है। किसी ने अगर पेड़ काटा तों गाँव वालों को मालूम हो जाता है कि किस गाँव वाले ने काटा। ये जंगलात जितना भी है ग्राम सभा के माध्यम से होना चाहिए।"

–**इन्द्रमणी**, वेलकण्डी गाँव, टिहरी

रक्षक ही भक्षक

"जंगलों का कटान हो रहा है। जो चौकीदार हैं जगलों के खुद रक्षक ही भक्षक बन रहे हैं। इसका असर यह हुआ कि हमें इंधन व इमारती लकड़ी की कमी हो गयी है। सरकारी स्तर में घेरबाड़ का एक कार्यक्रम चल रहा है। ये सब कुछ नही है। वहां कोई भी पेड़ नहीं दिख रहा है। कुछ सिंचाई की कमी से भी है। इसलिए वहां पेड़ लगाने के बजाय बीज बो दें तो वो ज़्यादा असरदार हो सकता है। अभी कुछ वन सिविल सोयम के हैं, बाकी जंगलात के हैं। यद्यपि सिविल सोयम उसका नाम है, वे भी जंगलात के अधीन है। देख-रेख तो वह (जंगलात) नही करती।

–**जीत राम**, टिहरी गढ़वाल

सावित्री देवी, टिहरी गढ़वाल के सावली गाँव में महिला मंडल दल की मुखिया हैं। उन्होंने चिपको आन्दोलन में मुख्य भूमिका निभाई थी। यह एक

पहाड़ी महिला है जिन्हें प्रकृति की क्रियाओं का गहरा ज्ञान है। वे पेड़ों, मिट्टी व पानी के बीच का संबंन्ध समझती हैं। ये बताती हैं कि कैसे वनों को तथा चरागाहों को सरकारी योजनाओं से खतरा पैदा हो रहा है। बकरवाल भी काफी नुकसान पहुँचा रहे हैं और स्थानीय महिलाएं अपने जंगलो को बचाने के लिये इनका विरोध कर रहीं है।

"जंगल बनता है तो पानी तो अपने आप हो जाता है। जंगल के बनने से मिट्टी ढहती नहीं। जंगल के ना होने पर मिट्टी का कटाव होता रहता है। जब मिट्टी ही नहीं तो नमी किस पर होगी? जंगल के होने से वर्षा होती है तथा नमी रहती है। बाद में यही नमी स्रोतों का रूप ले लेती है। तभी तो जंगल में हम प्यासे नही रह सकते, पानी के स्रोत होने से।

"पहले तो खूब घने जंगल होते थे पर अब तो कुछ भी नहीं है। जंगल से हमे आम ज़रूरत की लकड़ी मिलती थी। आज जो ऊपर (सरकारी दफ़्तरों में) बैठे हैं वे तो योजनाएँ दे रहे हैं, पर बीच वाले लोग जो है वह सब खा रहे है। उन्होने हमारा जंगल साफ किया। ठेकेदारों ने ऊपर वालों को रिश्वत देकर, सारे जंगल चुपचाप काट लिए तो हुआ ना इनका फायदा? और हम नीचे वाले लोग चीटियों की तरह मारे जा रहे हैं!

"हम चीड़ को ठीक नहीं मानते क्योंकि चीड़ जहां ज़्यादा है वहाँ पतरोल आदि हो जाता है। वहाँ उसका ही लाभ होता है। शुष्कता भी ज़्यादा होती है। और वहाँ दूसरे पेड़ नही पनप पाते। जहाँ बांज तथा बुरांस होते हैं, वहां नमी होती है। और चौड़े पत्तों के पेड़ बीज देर से देते है तथा चीड़ के पौधे बीज

जल्दी दे देते है। फिर उनको काटने भी नहीं देते फारेस्ट वाले। पालते हम है, काटने वे नही देते, क्योंकि उनको तो इससे फायदा है।

"मैं तो समझती हूं कि चीड़ की जो छोटी छोटी पौध होती है उसे उखाड़ लो। अगर बड़े काटेंगे या उखाड़ेंगे तो हम पर तो जुर्माना होगा। और जो हमारे लिए अच्छे उपयोगी पौधे हैं उनको बढ़ावा देना होगा ताकि वे बीज दे सकें। मेरा अनुभव है कि वृक्षारोपण के बजाए प्राकृतिक उगने वाले पौधे ज़्यादा अच्छे हैं जंगल के लिये।

"वृक्ष मिट्टी के कटाव को रोकने में सहायक होते हैं। पेड़ मिट्टी को ज़मीन में पकड़ कर रखते हैं। यह मेरा अनुभव है। चारे के लिए, चीड़ के अलावा सब पेड़ जैसे बाँज, बुरांस आदि अच्छे हैं।...वृक्षारोपण के सब बेकार के वृक्ष हैं। किसी काम नहीं आते है, ना लकड़ी के ना घास के। ऐसे वृक्षारोपण का क्या फायदा है?

"पेयजल पहले तो स्रोत से लाते थे पर अब तो नल में आता है। उसी से लेते हैं। जब जंगल ही नही है तो वर्षा कहां से होगी? बिना जंगलो के वर्षा संभव नहीं है।

"सारे जंगल कट रहे थे और हमारा महिला मण्डल कुछ भी नहीं कर पा रहा था। यहाँ बकरियाँ भी आती थी चुगान हेतु, दो सीजन लगातार हर वर्ष नीचे ऋषिकेश आदि से आती थीं। पर ऊपर देवता के मुलक रहते थे–केदारनाथ, बद्रीनाथ आदि में गंगोत्री, जमनोत्री आदि में रहते थे गर्मियों में। और सर्दी में नीचे चले जाते थे। तो फिर वह बकरियाँ मार्च-अप्रैल में आकर सब

घास खा जाती थीं और जो बड़ी डालें होती थी उसे गड़रिया काट कर खिला देता था।"

यहाँ तक कि गाँव वाले भी वनों को अपना नहीं मानते तथा उनकी तरफ उनका रूख बहुत ग़ैर ज़िम्मेदार हो गया है। **सावित्री देवी** आगे कहती हैः

"घेरबाड़ से पहले हमें स्वयं पर अंकुश लगाना होगा। घेरबाड़ तो बाद की बात है।"

पारम्परिक खेती को खतरा

पारम्परिक पहाड़ी किसानों को पता है कि वनों तथा चरागाहों में उपलब्ध विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधों का उनकी खेती की पैदावार पर सीधा प्रभाव पड़ता है। वन मिट्टी के प्राकृतिक कारखाने हैं। पेड़ों के पत्तों से गौशाला के फर्श को ढकते है। इससे अन्ततः बहुत अच्छी खाद मिलती है जो कि खेतों में काम आती है। पशु वही चारा खाते हैं जो कि वनों में मिलता है और सारे खनिज फिर से खेतों में चले जाते हैं। इस प्रकार वन एक पोषक तत्वों का खजाना माना जा सकता है। ये सब खेतों तक जाते रहते हैं। पहाड़ों में ज़मीन की उर्वरकता व उपजाऊ क्षमता बिल्कुल उतनी ही अधिक होती है जितनी कि वनों में पेड़-पौधों की विविधता। सदियों से पहाड़ी लोग इस ज्ञान से भोजन के मामले मे पूर्ण रूप से सुरक्षित है, और इसके लिए उन्हें किसी किताब या वैज्ञानिक खोज की आवश्यकता नहीं पड़ी।

लेकिन आज, जबकि सदियों पुरानी प्रजातियों जिनको पहाड़ी किसानों ने अपने ही तरीके से विकसित किया था, उन के स्थान पर व्यवसायिक अनाजों

की खेती की जा रही है, तो **चतरा देवी** जैसे कई किसान यह महसूस कर रहे हैं कि उनकी खेती व फसलों को एक नया खतरा हो गया है:

> "हमारे लोगों ने इस बात (नये बीज) को लेकर विरोध किया है। हमारे घर के बीज अच्छे हुआ करते थे। हम उन्हें अलग से छांटकर, सफाई कर के, अलग रख देते थे कि ये हमारे बीज के लिये हैं। जो बाहर के बीज होते हैं, उनके बारे में हमें कुछ भी पता नहीं होता है कि वे किस साल के हैं, कहाँ से है, आदि। हर जगह देखा गया है कि तिपतिया घास (खरपतवार) का बीज भी बाहर के बीजों के साथ आता है। जाखणीधार में तो मैंने देखा कि सारी घास तिपतिया की है, मुश्किल से एक-आध पौधे झंगोरा के हैं। गेहूं के साथ कुछ लैंगे के बीज भी आते हैं। ये तो घास ही है। तिपतिया का बीज लैहसुन के बराबर होता है। इसके आस पास कोई घास नहीं होता है। यह फैलता रहता है और किसी भी अनाज को अपने पास नहीं उगने देता है। जाखणीधार ब्लाक मे मैने ऐसे खुद खेत देखे जहाँ तिपतिया के अलावा कुछ और न था।"

बचनदेई (७०) टिहरी गढ़वाल के धारवाल गाँव की रहने वाली हैं और वे नई वैज्ञानिक फसल के बारे में अपना अनुभव बताती है:

> "एक नया बीज सरसों का आया था पिछलें वर्ष। दिल्ली से अपनी कार पर आये वे लोग। गाँव के ऊपर सीधे कार लेकर आए। उन्होंने एक-एक थैली सरसों और एक थैली खाद साथ में

दी। कहा कि यह अच्छी सरसों है इसे बोओ, अच्छी फसल होगी और साथ में इस खाद को डालना। हमने वह सरसों बोई और खाद डाली। उस सरसों के पौधे बहुत लम्बे होते हैं। हमने साथ में मटर भी बोये थे। वह सारी फसल ही सरसों से ढ़क गयी थी। शायद वह अपना बोझ ही नही संभाल पाती है और बहुत देर से पकती है। उस सरसों की फसल के कारण हम अगले समय की अन्य फसल भी नहीं बो पाए। फसल की उपज उतनी ही हुई जितनी कि हमारी सरसों की होती थी। तो हमें फायदा कुछ नही हुआ, बल्कि नुकसान ही हुआ। जल्दी फसल न पकने के कारण दूसरी फसल के लिये देर हो गयी थी। हम अगली फसल नहीं बो पाये। इसलिये हमने इस वर्ष उस सरसों के बीज को ही खतम कर दिया है। अब हमने अपनी ही सरसों बोई और ठीक समय पर काट कर अगली फसल के बीज भी बो दिये। तेल हमारे लायक हो गया है। पहली सरसों को (दिल्ली वाली) तो चूहे भी खाने लगे थे खेत में ही!

"सड़क का फायदा तो यह हुआ कि अब रोड़ी, बजरी, पत्थर, राशन सब यहीं गाँव के अन्दर पहुँच जाते है। और अधिक फायदा तो कुछ नहीं हुआ इस सड़क से। खेती की सारी व्यवस्था तो टूट गयी है इस सड़क से। खेती के नुकसान से बढ़कर क्या कुछ नुकसान बड़ा होता है?

"पहले तो जंगल मे कम जाते थे लकड़ी के लिये, क्योंकि झाडियाँ बहुत थी। लोग झाडियो को काटकार ही लकड़ी लाते थे, पर अब तो सारी झाडियाँ खतम हो गयी है। इसलिये जगंल जाने लगे हैं लकड़ियों के लिये। पहले बहुत कम काटते थे चीड़ के पेड़ को।

"करौंदा, तुँगलू, किनगोड़, टिमरू आदि की झाड़ियाँ होती है। इन सबकी लकड़ियां चूल्हे में जलाने के काम आ जाती है। जब बन्दरकोट की महिलाए लालटेन (लेटांना) की लकड़ियाँ जलाने के लिये ले जाती थी, तो हम लोग उनकी मज़ाक उड़ाते थे कि देखो ये लालटेन की लकड़ी जलाने के लिये ले जा रही है। और अब हम लोग भी इसी लालटेन की झाड़ी को जलाने के लिये लाते हैं, क्योंकि सारी अन्य झाड़ियाँ खतम हो गयी हैं। यह लालटेन को अभी काटो और भादौं (चार महीने के अन्दर) फिर तैयार हो जाती हैं। बेकार झाड़ी है यह। इसे कोई बाहर के लोग यहाँ लाये हैं। यह पहले यहाँ होती ही नही थी, पर अब तो इसी झाड़ी का राज है सब जगह।

"बेटी, पहले जैसा मौसम नहीं है अब। पहले खूब वर्षा होती थी, अब कम होती है। और अब देखो जो वर्षा आजकल हो रही है वह अगर चैत के महीने में ही होती तो गेहूँ की फसल अच्छी होती। अब तो मौसमी वर्षा का समय ही बदल रहा है, जो फसल के अनुकूल नहीं है। अब सरकारी खाद की फसल वाला गेहूँ तो खतम हो गया है। बस, सिर्फ थोड़ा सा गोबर वाली फसल बची है। अगर समय पर वर्षा होती तो ठीक फसल होनी थी।

"यह कहा गया है रामायण में कि कलियुग में बहुत अनाज बोने पर थोड़ा सा अनाज पैदा होगा। तो यही है वह समय। इसे ही कलियुग कहते हैं।

नागनाथ, जौंनसार की **असूजी देवी** एक बहुत भाग्यशाली महिला हैं जिन्होंने अभी तक अपनी खेती के व्यवसाईकरण का अनुभव नहीं किया है।

वे अभी भी पारम्परिक तरीके से खेती करती हैं, व बीजों को सुरक्षित रखती हैं। मिट्टी की अच्छी किस्म बनाए रखकर, और पानी व पेड़ों का भी ख्याल रखती हैं। स्थानीय विविध प्रकार की फसलें लगाकर अपने परिवार की सेहत का भी ध्याान रखती हैं। **असूजी** का जीवन अभी तक शान्तिपूर्ण है।

"सब अनाज, जो पहले यहाँ होते थे, वह सब अब भी होते है यहाँ। मार्सा, कौंणी, कोदा, सरसों, मक्की, झंगोरा सब होता है। धान में चट्ट, गेहूँ, दाल में उडद, फुलथी, मसूर, सब होता है। आलू, अरबी, फल में अखरोट, चूलू होता है। राजमा भी होती है। आलू हमारी नगदी फसल है। राजमा भी छः सात बोरी तक हो जाती है। इसे भी बोते हैं। चौलाई खूब बोते हैं। यह भी मंहगा बिकता है। कौणी, झंगोरा बोना अब कम कर दिया है। चौलाई का लमड़ी बनता है। पहले इसे खूब खाते थे। अब तो बनाते ही नहीं, यह तो बिक जाता है। पैसा बहुत मिलता है। चावल खरीद कर ले आते हैं बदले में। ५०० रूपये मण चौलाई बिकता है।

"कुलथ (गहत) की दाल में ही तो कीड़ा सबसे ज़्यादा लगता है। उसमें राख मिला देते हैं या फिर तेल में मसल कर रख देते हैं पर पहले बीज को खूब अच्छी तरह से धूप में सुखाना पड़ता है। प्रत्येक किस्म के बीज को धूप में सुखाना पहला नियम है। गाय के गोमूत्र से बीज को मसल कर रख दो, कीड़े से बचाया जा सकता है। गेहूँ को हम आजकल डी.डी.टी. पाउडर से मसलकर रख देते हैं। पहले तो नही लगाते थे। गेहूँ को हम दो बार सुखाते हैं। हमारे कोठार (अन्न भण्डार) घर से अलग होते है। वे देवदार की लकड़ी से बने होते हैं।"

लेकिन टिहरी के अन्य क्षेत्रों में कहानी कुछ दूसरी ही है। टिहरी गढ़वाल के छोटे-छोटे गाँव बद्रीनाथ व केदारनाथ की यात्रा के पवित्र मार्ग पर बसे हैं। पहले यहाँ जीविका चलाने हेतु खेती थी और अदल बदल के हिसाब से उपज बेची जाती थी। अब सड़कों, जल विद्युत योजनाओं, पर्यटन, और आधुनिक व्यापार ने उन्हें खेती में परिवर्तन के लिए बाध्य कर दिया है। परिवारों को पालने के लिए की जाने वाली खेती की जगह अब अधिक पैसा कमाने वाली फसलें उगाई जाती है। इससे पैसा पुरूषवर्ग के हाथ में आ रहा है, और इसका फ़ायदा परिवार को बहुत कम होता है।

हिमालय में यह परम्परा है कि खेती महिलायें करती है। कृषि संबंधी अधिकतर काम वे ही करती हैं। स्थानीय पर्यावरण और उसका कृषि क्षेत्र की उत्पादकता से संबन्ध–इसके बारें में उनका ज्ञान आद्वितीय है। स्थानीय ज्ञान माँ से बेटी को विरासत में मिलता रहा है। अतः महिला वर्ग के पास कृषि प्रजातियों के बारे में ज्ञान की बहुत अमूल्य धरोहर है। अब नए वैज्ञानिक विचार और संकर किस्मों के बीजों को उनके ऊपर थोपा जा रहा है और यह खतरा है कि वे अपने ज़मीन संबन्धी कामों से दूर होती जा रही हैं। व्यावसायिक कृषि में महिलाओं के ज्ञान का कोई फ़ायदा नहीं है, ना ही इससे उनके परिवारों को सुरक्षित रूप से भोजन मिल पायेगा। जैसे जैसे पैसा पुरूष वर्ग के हाथ मे आयेगा, कृषि के क्षेत्र में क्या करना है इसके निर्णय का काम महिलाएँ खोती जायेंगी। विक्रय का या बेचने का नया तरीका धीरे-धीरे पर अवश्य ही पहाड़ी महिलाओं की सत्ता व अधिकारों को खत्म कर देगा।

वैज्ञानिक कृषि के तरीकों से **सुदेशा देवी** द्वारा किये गए अनुभव काफी चौंका देने वाले हैं। वे महसूस करती हैं कि मनुष्य की प्रवृति के कारण ज़मीन, जंगल व जलवायु बदल रहे हैं।

"मौसम तो बहुत बदल गया। मौसम तो हमने ऐसा देखा कि लोग सावन के महीनों को अंधेरा महीना कहते थे। कभी लोग धूप ही नही देखते थे। इतनी बारिश होती थी सावन के महीने में, और इन महीनों में आज तक हम सब गेहूँ बो देते थे। अब बारिश कहाँ है? यह तो बिल्कुल ही जैसे इंसान हो रहा है वैसे ही मौसम भी हो रहा है।

"क्या पता, अब इतने वैज्ञानिक तो हम हैं नहीं... खाद और बीज अपना ही डालते है और अब लोगों को समझाते हैं कि बीज अपना ही लगाओं। बिल्कुल जैसे पहले रखते थे, वैसे ही रखते हैं। कम से कम धान की हमने २००-३०० प्रजातियाँ इकट्ठा कर दी हैं। और पूरे बीज जो हमारे यहाँ विलुप्त हो गये थे, उन्हें खोजकर रवांई तथा दूसरे क्षेत्रों से इकट्ठा किया है। मैं इधर उधर ज़्यादा जाती थी, तो मैं कहती थी कि ये बीज मैं लोगों से ही ले आऊँगी। पर मुझे ऐसा लगा कि लोग तो (सरकारी) खाद डालते हैं, और मैं नहीं डालती। इससे फर्क होगा बीज में। इसलिए मैं अब अपने ही बीज रखती हूँ।

"पहले साल तो समझो कि सरकारी खाद से बहुत बढ़िया फसल हो गयी, पर फिर दूसरे साल तो और कम, और फिर तीसरे साल और कम, और फिर उससे भी कम हो गयी। और जो खाद पर पैसा लगा है, वह अलग है। और हमारी ज़मीन जैसे कि जितना कोई आदमी शराब पिये उसे हानि होती है उतनी ही हमारी ज़मीन पर उस खाद से बुरा असर पड़ा है।

"पता नहीं उसमें सरकारी खाद में कुछ ऐसी तेज चीज़ है। जब कभी कहीं किसी ने खेत मे डाला होगा तो कहीं ज़्यादा हो गई तो एकदम भस्म कर गई (फसल को)। और जब मैंने देखा कि

कुछ साल पहले सूखा पड़ा तो, तब मैंने खाद नहीं डाली। कई लोग होंगे ऐसे जो नही डालते होंगे तो उनका अनाज हुआ, और जिन्होंने खाद डाली उनका अनाज भस्म हो गया।"

विजय जडधारी ने पारम्परिक खेती का गहरा अध्ययन किया है। इसमें यह सुविधा थी कि विविध प्रकार की फसलों को प्रोत्साहन मिलता था जिससे खाद्यान अवश्य मिलते थे। एकदम संतुलित पोषण तत्व मिलते थे। प्राकृतिक रूप से ही फसलों में कीट नियंत्रण होता था व सूखे का प्रभाव भी नहीं पड़ता था।

"पारम्परिक कृषि मे पहले जो हमारी व्यवस्था थी वह जीविकोपार्जन के लिए थी, याने पैसे के लिए नही थी। प्राचीन कृषि में लोगो की आजीविका के लिए मंडुवा होता था, झंगोरा, गहथ, भट्ट, मारसा होता था जोकि हमारे वातावरण या पर्यावरण के अनुकुल था। पहाड़ में जो तगड़ी मेहनत करता है उसे अधिक ऊर्जा देने वाले अनाजों की ज़रूरत होती है जो उसके शरीर को लम्बे समय तक शक्ति दे सके और हाड़-तोड़ मेहनत करने मे शक्ति दे सके। मंडुवा हड्डी को मजबूत करने वाला मुख्य अनाज है। लेकिन आज हमारे वैज्ञानिक एवं सरकार कहती है कि आप मडुँवा और झंगोरा उगाना छोड़ दीजिए, आप सोयाबीन उगाइये। सोयाबीन से दूध निकलता है, तेल निकलता है, और दूसरे प्रोटीन है इसमें। लेकिन आप देखिए, कौन निकालता है तेल, दूध व प्रोटीन। बड़े-बड़े करोड़ों, अरबों के कारखाने ही करते हैं। आम आदमी इससे दूध नहीं निकाल सकता है। अपने पशुओं को खिला नहीं

सकता है, लिहाज़ा सोयाबीन को दलाल या दूसरे सरकारी साधन के हाथ बेच देते है। इसका एक खतरनाक परिणाम सामने आया है कि पहाड़ों मे चारे का अकाल पड़ गया है। जो लोग पहले मंडुवा झंगोरा उगाते थे उसके साथ अपने खाने के लिए अनाज एवं पशुओं के लिए चारा हो जाता था। अब सोयाबीन का तो चारा होता नही है। सोयाबीन तो बड़े कारखानों के लिए है तो इससे किसानों के, खासकर महिलाओं के, कष्ट बढ़ने लगे हैं।

"हमारी नई आर्थिक व्यवस्था के कारण आदमी पूरी तरह पैसे पर निर्भर हो गया है। जैसे उदाहरण के लिए पहले हम चीज़े एक दूसरे से अदला-बदली कर लेते थे। सामान, दाल, चावल या दूसरी घरेलू चीजें है उनसे एक तरह से विनिमय होता था, लेकिन आज तो पूरी तरह पैसे पर निर्भर हो गया है। हर चीज़ पैसे पर निर्भर हो गयी है। पहले जैसे हल लगाना है और मेरे पास बैल नहीं हैं तो मैं ये करता था कि किसी के साथ दो दिन काम कर लिया और बैल मिल जाते थे। लेकिन आज वो स्थिति नहीं है। आज तो पहले पैसे देने पड़ेगें और उसके बाद बैल हमें मिलेंगे। खेती का काम है तो पहले मिल जुलकर हो जाता था लेकिन आज मज़दूरी पर कराना पड़ता है, जबकि यदि मज़दूरी पर लगाओ तो खेती पर उतना होता नहीं है जितनी की मज़दूरी लग जाती है। तो एक तरफ से पैसे के कारण जो हमारे मानवीय मूल्य है, आपसी प्रेम भावनायें है, उनमें आपसी सामंजस्य टूटने लगा है।"

पर्यटन, जैसा कि सरकारी योजनाएं बनी हैं, पहाड़ी संस्कृति व वातावरण के लिए एक नया खतरा बन गया है। **विजय जड़धारी** कहते हैं:

"यहाँ पर जो टूरिज़्म (पर्यटन) योजनाएं सरकार की ओर से चल रहीं हैं वो तो पंचतारा संस्कृति को आमन्त्रित करती हैं। जो बड़े होटल बना रहें है उनमें बाहर का टूरिस्ट आएगा। या जो हवाई पट्टियाँ बनाई जा रही हैं उससे भी हमारा विकास होने वाला नहीं है। यहाँ पर आध्यात्मिक टूरिज़्म की बात होनी चाहिए या देशाटन या तीर्थ स्थान की बात होनी चाहिए। लोग अपनी सुख शान्ति तथा समृद्धि के लिए यहां पर आयें तो कोई एतराज नहीं है। लेकिन जो भोग लिप्सा के लिए यहां पर आते हैं वे प्रकृति के परिवेश को भी बरबाद करते हैं और यहाँ की संस्कृति को भी बिगाडते हैं।"

भिलंगना घाटी में सिल्यारा स्थित नवजीवन आश्रम की **विमला बहुगुणा** (६०) का दृष्टिकोण बहुत दूरदर्शी है। वे महसूस कर सकती हैं कि वनों व खेती को खतरा होगा तो सामाजिक उथल-पुथल भी होगी।

"मौसम में परिर्वतन क्यों नही होगा जब जंगल सब कट गये? जंगल के रहने से प्रकृति मे संतुलन रहता था। जहाँ जंगल रहते हैं वहां बाँज की पत्तियाँ धरती से संचित पानी लेकर अपने वायुमण्डल में अपनी पत्तियों से बिखेरती रहती है इससे नमी रहती है। लेकिन जब जंगल कट गये तो मौसम एकदम बदल गया और समय पर बारिश नहीं होती है, कभी सूखा पड़ जाता है।

"हिमालय तो उत्तर भारत का प्राण है और उत्तर भारत की जो खेती है वह पूरी तरह से नदियों पर आधारित है और नदियाँ जंगलों पर आधारित हैं। यदि यहाँ के जंगल खत्म हो जाएगे तो फिर नदियों मे कैसे पानी रहेगा?

"नई वन नीति बड़ा जोर देती है कि वृक्ष लगाओ। क्या होता है कि हर साल वृक्ष लगते है, हर विभाग वृक्ष लगाता है, लेकिन धरती पर अगर इतने वृक्ष पनपे फिर तो धरती पर आज वृक्ष ही वृक्ष होते। लेकिन ये केवल औपचारिकता होती है और बहुत कम लाभ मिलता है।

"व्यापारिक पेड़ लगाए जा रहे हैं जिससे कि हमारी धरती की गुणवत्ता भी समाप्त होती है हमारे पानी के स्रोत भी समाप्त हो रहे है। और बड़े होने पर यह कट कर बाहर चले जाते हैं। इनका घास (चारा) हमारे काम नही आता है। चीड़ की पत्ती में तेज़ाब होता है। यह हमारी खेती मे रोग पैदा करता है।

"हम महिलाओं व किसानों को आने वाले खतरों से सावधान कर रहे हैं। जैसे डुंकल स्कीम आ गया तो उस पद्धति से बहुराष्ट्रीय कंपनी के बीज आयेंगे। हमारे पुराने बीज तो समाप्त हो जाएगें क्योकि पहले-पहले तो वह उन बीजों को मुफ्त देंगे। वह संकर बीज है तो उनमें इतनी ताकत नही है कि उन बीजों से नए बीज पैदा हो सकें, और फिर किसानों को लगातार उनसे बीज लेने पड़ेगे। उन बीजों के साथ कई तरह की नई बीमारियाँ भी आएँगी।

"फिर हम अपने बीज नहीं रख सकते। हमारे पहाड़ों में यह माना जाता है कि लोग भूखे मर जाँएगें, उधार लेकर खाएगें, लेकिन बीज के लिए रखा अन्न खर्च नहीं करेंगे। ये हमारी संस्कृति है और यदि ये संस्कृति खत्म हो जाएगी, यदि हमारा किसान उस लालच मे फँस गया कि अभी तो मुफ्त बीज दे रहे हैं तो पहले साल तो अच्छी उपज दिखाई देगी लेकिन फिर अगले साल भी उसी बीज के लिए हमें उन्ही पर निर्भर रहना पड़ेगा।

हम इस बारे मे लोगों को बार बार सचेत कर रहे हैं।

"पहले जो हमारे ज़रूरत की चीजें थी वह हम अपने गाँव में ही उपलब्ध कर लेते थे। लेकिन आज आवश्यकता बढ़ गई है। एक बहुत गलत प्रवाह आ रहा है पाश्चात्य देशों से भारत में, और दिल्ली से पहाड़ में। हमारे जो लोग बाहर रहते है वह अपने साथ यह प्रवाह लाते हैं जिसका मुख्य कारण यह पुरूष प्रधान समाज है जो विकास व सहूलियत खोज रहा है। जब हम सिल्यारा आए थे तो उस समय केवल एक दुकान थी जिसमें नमक, गुड़ और कपड़ा मिलता था जो कि हम अपने गाँव मे नही पैदा कर सकते थे। लेकिन आज हमारे गाँव मे चार दुकाने हैं, और चारो दुकानों पर काफ़ी भीड़ लगी रहती है क्योंकि मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा दिया है, और आवश्यकता से अधिक आवश्यकतायें बढ़ा रहा है। आज कितनी चीजें अपने ग़ैर इस्तेमाल की कर ली है। हम तो उनके नाम भी नहीं जानते हैं। ये सारी चीजें हैं, जिनपर समाज आधारित हो गया है।"

परम्परागत जीविका तथा स्वदेशी ज्ञान का नाश

युद्धों व राजनैतिक तनावों के कारण भी सदियों से शान्तिप्रिय आत्मनिर्भर जीवन बिताने वाले लोगों का रहन सहन बदल गया है। ये दूरदराज के पहाडी लोग है। तिब्बत तथा गढ़वाल कुमाऊँ के बीच व्यापार पर रोक लगाने से केवल जीविका की ही हानि नही हुई किन्तु स्वदेशी ज्ञान का भी, जो बूटियों, जड़ियों, तत्वों व फसलों के बारे में था, एकदम पतन हुआ है क्योंकि ये सब वस्तुएँ ऊँचे-ऊँचे दर्रो और दूर-दूर के चरागाहों तथा दलदल के इलाकों में ही पाई जाती थी।

इन्द्रसिंह फोनिया एक भोटिया हैं जिनके परिवार वाले गढ़वाल के राजा की ओर से तिब्बत में प्रतिनिधि थे, और दोनों साम्राज्यों के बीच का व्यवसाय संचालित करते थे। वह बताते हैं कि उनके जीवनकाल में नीती घाटी के पर्यावरण में बहुत कुछ बदलाव आया है।

"१९६२ के युद्ध के कारण हम लोगो का जो तिब्बत से परम्परागत व्यापार था वह एकदम बन्द हो गया है। १९६२ से लगभग १९७४-७५ तक हम लोग बहुत ही मुश्किलों में रहे। १९६२ से पहले हमारे पास बकरियाँ, घोड़े सब कुछ थे और युद्ध के कारण जब तिब्बत व्यापार बिल्कुल बन्द हो गया तो हमे वो बेचने पड़े। हमें अपने व्यापार के आधार, अपने जानवर, सब बेचने पड़े और तब धीरे-धीरे लड़को ने पढ़ना शुरू किया। तब धीरे-धीरे लड़के १९७४-७५ तक सरकारी सेवाओं में चले गये। इस वास्ते थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ, नही तो बीच का एक समय तो बहुत ही कठिन रहा।

"वर्ष में ऊपर (के क्षेत्रों में) एक ही फसल पैदा होती है। उसमें पहले तो जौं, ऊवा जौं, और फाफर मुख्य होते हैं अब तो आलू और राजमा पैदा करते हैं। जौं आदि गौण हो गये है। तिब्बत व्यापार बन्द होने के कारण पुरानी फसलें जौं, ऊवा जौं तथा फाफर तिब्बत जाती थी। तिब्बत के व्यापार में इनसे हम लोगों को लाभ था क्योंकि इन वस्तुओं के लिए मांग होती थी। अब इन वस्तुओं का कोई बाज़ार है नही। अब लोग उन फसलों को बोते है जिनसे सीधा पैसा आये–उनमें आलू व राजमा प्रमुख फसलें हैं।

"पुराने ज़माने में हम ज़्यादातर पशु व्यापार की दृष्टि से पालते थे। ज़्यादातर घोड़े, बकरियाँ होती थी जो हमारे माल को ढोती थी। घर पर तो हमारे और घोड़े खच्चर, गाय, जूबा, व अन्य पशुपालन भी होता था। क्योंकि अब तो वो पशु रह नही गये इसलिए अब लोगों ने भेड़पालन शुरू कर दिया है। हर गाँव मे करीब एक-दो परिवार ही भेड़ पालते हैं। बाकी के पास तो पशु नाम से गाय व बैल ही हैं। कुछ गाँवो में खच्चर भी अपने व्यवसाय के लिए पालते है।

"हमारी पुरानी परम्परायें अभी तक कायम है, परन्तु कठिनाई ये है कि हमको कच्चा माल इत्यादि नही मिलता है।...इन (ऊन की) चीजों को बनाने में कठिनाई है। उसे बाज़ार में ले जाना पड़ता है। इन कठिनाइयों को देखते हुए लोग सोचते हैं कि सेवा (नौकरी) ही की जाय तो ज़्यादा अच्छा है।

"अब मूल्यों में परिवर्तन तो हो ही रहा है। आदमी नये बहाव में जा रहा है। पुरानी परंम्परायें छोड रहे है। हमारे पहाड़ में बूढ़े-बूढ़ियाँ घर में है। नये लोग पलायन कर रहे हैं। धीरे-धीरे परिवर्तन हो ही रहा है। ये हर क्षेत्र में असर डाल रहा है।"

शान्तिदेवी की मातृभूमि जो कि ऊँचे पहाड़ी चरागाहों में जादुंग में थी, मिलिट्री के कब्ज़े के कारण छोड़नी पड़ी। उनके परिवार वालों के पास केवल मार्मिक यादे हैं, कोई मुआवज़ा नहीं। यह अत्यन्त महत्व देने की बात है कि लम्बे समय के बाद प्राप्त हुआ अनुभव तथा ज्ञान, जो उन्हें पारम्परिक रहन सहन व जीवन को बनाए रखने की लड़ाई के बारे में था, वह भी अब धुँधली यादों में बदलता जा रहा है।

"पहले तो हम जादुंग से भी छः महीने नीचे और ऊपर जाते रहते थे। चोर पानी तक जाते थे। उस समय भी हम पहले बगोरी आते थे और फिर यहाँ डुण्डा आते थे। फिर डुण्डा से चोर पानी जाते थे। जब हम छः महीने बाहर रहते थे उस समय ही मिलेट्री के जवानों ने हमारी ज़मीन पर कब्ज़ा किया। जादुग मे कब्ज़ा करने के बाद तीन साल तक हमें मिलेट्री ने खेती करने के किए जाने दिया। वहाँ पानी की कमी नहीं है, गार्मियों के समय वहाँ बर्फ नही गिरती है। बस तीन साल तक ही खेती करने दी। फिर तो हमें वहाँ जाने ही नही दिया। वहाँ पूस (नवम्बर) में बर्फ पड़नी शुरू होती है।

"पूरे ३२ साल हो गये हैं। उन्होने पूरा कब्ज़ा कर लिया। कोई कहता है पैसा देंगे कोई कहता है ज़मीन देंगे पर अब तक ना ही ज़मीन मिली ना ही पैसा! उस समय डी.एम. ने कहा था कि तुम्हे ज़मीन मिलेगी पर अब तक नहीं मिली। पैसा भी नही मिला।

"पहले तो समय से वर्षा होती थी और समय पर फसल हो जाती थी पर अब तो समय से वर्षा ही नही होती, इसलिए समय पर फसल ही नहीं होती। फसल आधा हो गयी है। वहाँ (बगोरी में) आलू, राजमा होता है। अब फसल में जब दाना बनने का समय आता है वह काला पड़ जाता है। शायद समय पर वर्षा का न होना ही काला होने का कारण है या अन्य कारण भी हो सकते हैं। ६-१० मन आलू वाले खेत में अब सिर्फ ३ मन होता है।"

जाने पहचाने जंगल तथा गौमुख का ग्लेशियर **शान्ति देवी** की आखों के सामने खत्म होते जा रहे हैं। वे पेड़ों को हुए नुकसान को बताती हैं और यह भलीप्रकार जानती हैं कि यदि प्रकृति का तिरस्कार होगा तो इससे दारूण दुख होगा। कहती हैं:

"देवदार, किमू, ढालेबा (उसके पत्ते हथेली के जैसे और उंगलियों की तरह होते हैं) के वृक्ष होते हैं। भोज पत्र के पेड़ भी होते हैं। हम लोग जंगल से लकड़ी लाते हैं। काफी दूर से लाना पड़ता है इसलिए अकेले नहीं जाते। साथ साथ जाते है। कई बार ६-७ कि.मी. दूर तक जाना पड़ता है। लकड़ी काट कर लाते है। काटते समय तो हम अलग ही होते हैं। सूखी हुई लकड़ी ही काटते हैं। हरी लकड़ी कम काटते हैं। गैस की बनी रोटी मुझे पसंद नहीं है। पचती नही है। इसलिए रोटी चूल्हे पर और चाय, दाल आदि गैस पर बना लेते हैं। प्रेशर कुकर की दाल भी अच्छी नहीं लगती है।

"पेड़ों की चोरी कैसे रूक सकती है हमें भी समझ नहीं आता है। हम मना करते हैं तो हमे 'शूट' (गोली मारने की धमकियाँ) करने को कहते हैं। सरकार ही बंद कर सकती है यह काम। अपने कर्मचारियों को समझाये वे उनको कहें कि पेट न भरें (रिश्वत न खाएँ)। अगर कर्मचारियों का पेट भर जायेगा तो जंगल खाली हो जायेगा। उनका तो कुछ नुकसान नही होगा, नुकसान तो हमारा होगा। हमारे जंगल खत्म हो रहे हैं।

"यहाँ भी जंगलों मे आग लगती है। पर लगाता कौन है यह समझ मे नही आता है। दो बार बहुत पहले (आग बुझाने) बुलाया

गया था। हम लोग गये थे। पर अब कोई आग बुझाने के लिये बुलाता ही नहीं है। हम आग अकेले तो बुझा नही सकते, इसलिए जाते भी नही हैं। हम कभी पूंछते है तो हमे जवाब मिलता है कि ठेकेदार लोगो ने लगाई है, लीसे के लिए। वे ही बुझाते भी होंगे, तभी तो आग बुझ भी जाती है।

"लीसा निकालने के लिए पेड़ के तने को थोडा सा काटते है, और उस पर लोहे का टुकड़ा लगा देते हैं, और नीचे से टिन का गिलास बांध देते है। इस पर लीसा टपकता रहता है। हमें तो वे लोग कहते हैं अगर एक भी गिलास यहां से कम हुआ तो हथकड़ी लगा देंगे। हम करेंगे क्या इस लीसे का जो ऐसी धमकी देते हैं! हमारे किसी काम का नही है वह।

"एक पेड़ में एक ही घाव होता है और किसी-किसी में तो २, ३, ४, गिलास अलग-अलग जगह एक ही पेड़ पर लगे रहते हैं। नुकसान होता ही होगा, जैसे इन्सान को पीड़ा होती है वैसे ही पेड को पीड़ा होती होगी। इससे कई पेड़ सूख जाते हैं। और जब पेड़ के बीच तने को काट देंगे तो पेड़ को नुकसान कैसे नही होगा?

"भोजपत्र की लकडी काम तो आती नही है। उसे चीर चीर कर ले जाते हैं। लकडी जलाने के काम में ले जाते हैं, इसलिए खत्म हो गया।

"पहले तो लंका में पुल नहीं था इसलिए पैदल जाते थे। अब तो दुनिया भर की टैक्सियाँ, गाडियाँ, स्कूटर आदि जाते हैं। फर्क पड़ा तो होगा, हमारे देखते-देखते यह गौमुख ग्लेशियर १०-१२ मीटर पीछे चला गया है। १६ साल पहले गलेशियर बहुत नीचे था अब तो गंगा ऊपर ऊपर चली गयी है। यात्री तो जाना ही चाहेंगे पर एक प्रतिबन्ध

होना ही चाहिए कि एक सीमा के बाद यात्री आगे न बढ़े।

"पहले गंगोत्री बहुत साफ थी। उस समय एक मन्दिर था उसके नीचे दो पंक्तियों मे मकान थे और तीन चार दुकाने थी। अब तो पाँव रखने की भी जगह नहीं है। गंगाजी के निकट तक गंदगी फैली हुई होती है। पहले हम अपने हाथ से रोटी बनाकर खाते थे। अब तो चूल्हा बनाने लायक जगह भी नही बची है। वहाँ होटल बन गये है। आगे कहीं आधा कच्चा खाना मिलता है कही १२ रू. छकाई।"

आजीविका के पुराने तरीके, जो कि स्थानीय स्तर पर उपलब्ध संसाधनों पर निर्भर थे, अब संभव नहीं है और आत्मनिर्भर सामाजिक आर्थिक व्यवस्था चरमरा गई है। ६५ वर्षीय, **मोहन लाल उनियाल** एक आयुर्वेद के डॉक्टर हैं और उन्होंने देखा है कि किस प्रकार गाँव की सामाजिक व आर्थिक स्थिति पेड़ पौधे खत्म होने के कारण बदल गई है। इन्हीं के साथ ही ऐसे सभी व्यक्ति भी कष्ट पा रहे हैं जिनका व्यवसाय पेड़-पौधों से जुड़ा हुआ था। इनमें से वे भी एक व्यक्ति हैं।

"बिल्कुल विपरीत प्रभाव पड़ रहा है इस अर्थ व्यवस्था का। पहले जो विनिमय का तरीका था वो ज़्यादा उत्तम था। मुझे घी की आवश्यकता है तो मैं घी ले लेता और दूसरे आदमी जिसे चावल की आवश्यकता है उसे चावल दिए जाते थे। जो काम मैं, जैसे चिकित्सा व्यवसाय, करता हूँ तो किसी व्यक्ति को चिकित्सा उपचार मुफ्त कर दूँ या जो वस्तु की आवश्यकता मुझे है, वह उसे दे देता है। मुद्रा-स्फीति से लोगों के सम्बन्ध खराब हो रहे हैं। मुद्रा स्फीति यहां बढ़ रही है और इससे समाज विघटित हो

रहा है। लोग स्वार्थ परक हो रहे हैं।

"ऐसा है कि अब पहले वाली स्थिति रही नहीं है। पहले तो तेल के लिए तेली होता था। गाँव में तो तेल के लिए आप तिलहन ले आइए और वहीं पर से निचोड़ करके आप को तेल दे देता था। आज जो उसने अपना काम खत्म कर दिया। घरहाट (पनचक्की) हमारे यहाँ चलती थी जिससे हम आटा पीसते थे। अब वे पनचक्कियाँ बंजर हो गई हैं। उसके बदले अब यहाँ बिजली की चक्कियां चलनी प्रारम्भ हो गयी हैं। आज हम बिजली पर निर्भर होने लगे हैं। यदि बिजली नहीं आयी तो उस दिन भूखे रह जायेंगे। जैसे तेल निकालने का, लोहार, कुम्हार के काम को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये और अब हम बड़े कष्ट में है क्योंकि सामान मिलता नहीं हैं। लोहार अब अपना काम कम करने लगा है। उसके बदले मे बाहर से सड़को मे जो लोग आते है उनसे लोहे का काम करवाया जाता है। कुम्भार भी यहाँ होते थे। वे मिट्टी के बर्तन अब मिलते ही नहीं है। उपलब्ध ही नही है। और इसी तरह से दूसरे धन्धे हैं वे भी शनैः शनैः कर खत्म हो रहे हैं।

"जैसे बताया है कि इसका मुख्य कारण है लोगों का पलायनवादी दृष्टिकोण तथा लोगों की बढ़ी आवश्यकतायें। कम आवश्यकताऐं नही है। लोग हाई स्टेंर्डड (उच्च सार) से रहना चाहते हैं। इसलिए उनकी आवश्यकतायें बढ़ गयी हैं। बहुतायत चीजें चाहियें, तो यहां से पूर्ति होनी असम्भव है। इसलिए लोग यहां से भाग रहे हैं। अगर उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय तो लोग भागेंगे नहीं।

"इस समय करीबन १५% वन रह गये है। २५% वन तो नष्ट हो गये हैं। जब से यहां सड़क बनी है, जब से यहाँ विकास का काम शुरू हुआ है, और जब से यहाँ पर वन विभाग ने ठेकेदारी प्रथा प्रारम्भ की है तब से शनैः शनैः वन का ह्रास होता रहा है। लोगों ने भी, जो गाँव के काश्त कार थे, वन का ह्रास किया है। किसी ने उनको ये शिक्षा नही दी कि वनो से तो फायदे ही फायदे हैं। पानी इससे मिलता है। बयार (वायु) इससे मिलती है और स्वच्छ वातावरण मिलता है। ये तो किसी ने ध्यान ही नही दिया आज तक। अब तो लोग परेशान हैं कि पानी की कमी हो गयी है, वर्षा समय पर नहीं होती है, तो ये इसके दुष्परिणाम अब सामने आने लगे हैं।

"ये जो वन बचे हुए हैं इस समय बहुत कम तो जंगलात के पास हैं और उसमें से थोडा बहुत वन पंचायतों के पास भी है। कहीं कहीं पर ख़ास करके वन विभाग ही इसका संरक्षण करता है। परंतु ये बहुत कम मात्रा में बचे हुए हैं। इनके संरक्षण के लिए अब बहुत सघन उपाय की आवश्यकता है। सरकारी स्तर पर तो ज़्यादा ही है। निष्ठावान कर्मचारियों की नियुक्ति की जाये। ये वन रक्षक वन भक्षक हैं। ये लोग तो जंगल को बेच बेच कर खा रहे हैं। अभी पिछले दिनों का ही मामला है। आग लग गयी। अब देखो उत्तरकाशी ज़िले मे चारो तरफ आग लगी रही। यहाँ सर्वत्र आग लग रही। टिहरी गढ़वाल में जगह जगह जून के महीने पूरी आग लगी रही। वन विभाग के किसी भी एक व्यक्ति ने वहाँ ध्यान नही दिया। यदि दिया हो तो वो कोई कारगर सिद्ध नहीं हुआ। इसका कोई रिजल्ट ही नहीं

आया। वन सब भस्म हो गये। तो निष्ठावान कर्मचारियों की नियुक्ति भी होनी चाहिये इसमें।"

गूजरों की बदलती परिस्थितियां

"जंगलों में भटकना पड़ता था। बच्चों को परेशानी होती थी। हमें भी परेशानी होती थी। रोज़ रोज़ जंगल कम हो रहे थे, इसलिए हम बस गये थे कि चलो खेती करेंगे तो आराम होगा, सुख होगा। घास-चारे की कमी को देखकर लोग बसने शुरू हुए थे।

"अब वे जंगल नहीं रहे। जो पेड़ हमेशा हरे रहते थे वे अब सूख गये हैं। उसमें अब हमारे जानवरों का गुज़ारा नहीं हो रहा है। कई लोग पेड़ों से गिरकर मर जाते हैं। अब पहले जैसे तगड़े व दुधारू जानवर नहीं रहे, न ही वह दूध रहा, न ही वे भैंसें रहीं। अब जब जंगल ही नहीं रहे तो जानवर कैसे पालें। वैसे हमारे जानवरों से और जंगल से हमारा एक ऐसा रिश्ता है कि इसके बिना हम दूसरा काम कुछ भी नहीं कर सकते।

"जब पशुपालन के हालात बदल गए जो कि मुनासिब नहीं थे, तो हम लोग ज़मीन से कमाना सीखने लग गये।"

–जनाब तालिब हुसैन, मैन्द्रत गाँव, टौंस घाटी

हिमालय क्षेत्र में पाई जाने वाली बहुमूल्य जैव विविधता के लुप्त होने के साथ ही साथ वहाँ का स्थानीय व स्वदेशी ज्ञान भी लुप्त होता जा रहा है। जीवित रहने के विकल्प कम हो गए हैं और पहाड़ी लोग जो कि इतने शक्तिशाली तथा स्वावलंबी थे, अब विदेशी विकास के नमूने बाहरी सहायता, विचार तथा सूचना पर निर्भर हो गये हैं।

एक पीढ़ी में जीवन का आधार इतना संकरा हो गया है। हिमालय क्षेत्र में बहुतायत में पाए जाने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के वन, खेती की किस्मे सभी करीब-करीब समाप्त हो गई हैं। गेहूँ व चावल, जो कि मैदानी क्षेत्र की मुख्य फसले हैं वे यहाँ आ गई हैं और इन्होंने यहाँ की अत्यन्त पौष्टिक फसलों का स्थान ले लिया है।

हिमालय क्षेत्र में जीवों का पतन प्रारम्भ हो गया है। फिर भी यहाँ के समझदार व सूझबूझ से भरे वासी बहुत आशावान हैं। यदि मनुष्य प्रकृति का आदर करे तो प्रकृति हमेशा उदार रहती है व क्षमा करती है। ऐसी परिस्थिति में जब कि विकास के कार्यक्रम जोर शोर से बनाये जा रहे हैं और वह भी कहीं दूर के मैदानी इलाके में, और पहाड़ के रहने वालों के जीवन के प्रत्येक पहलू पर उनकी घुसपैठ जारी है, यहाँ का भविष्य उन कुछ गिने चुने समझदार लोगों के हाथों में निहित है जो कि इस बात को लेकर निरंतर जूझ रहे हैं और सचेत हैं कि किस प्रकार इन पर्यावरण संबन्धी आपदाओं का समाधान किया जाए जिससे संतुलन बना रहे, ताकि उनकी ज़मीन उपजाऊ बनी रहे, और पर्यावरण स्वस्थ रहे। केवल इन्हीं पर उनका जीवन निर्भर है।

"हमारी पूरी उम्र ही अपने पहाड़ में, गांव में गुज़र गयी है। यहीं अच्छा लगता है... अपने घर में, गांव में, खुले वातावरण में जीते हैं हम। अपने गांव में लोगों के साथ बातचीत करते हुए, हंसते हुए जीते हैं। सबके साथ लेना-देना चलता है, अकेलापन नहीं लगता। बेटा, जब तक मुझमें अकेले रहने की शक्ति होगी मैं यहीं गांव में रहूंगी।"

बचनदेई, धरवाल गांव, टिहरी